भाषाई द्वंद्व : हिंदी बनाम मैथिली

मोहम्मद नौशाद
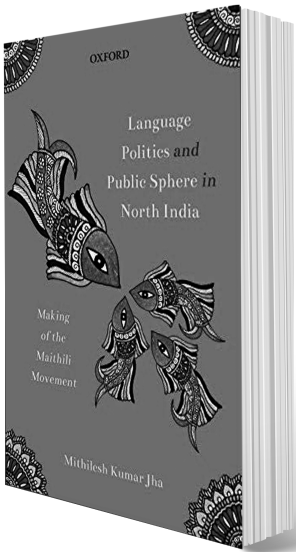
लैंग्वेज पॉलिटिक्स ऐंड पब्लिक स्फ़ियर इन नॉर्थ इंडिया : मेकिंग ऑफ़ द मैथिली मूवमेंट

मिथिलेश कुमार झा

मूल्य : ₹ 892.

पृष्ठ : 363.

ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

अभिव्यक्ति की आज़ादी लोकतंत्र की बुनियादी शर्त है। वह व्यक्ति के निजी जीवन से लेकर सार्वजनिक जीवन को बेहतर बनाने तथा विचार और नई बहसों को जन्म देने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है। इस तरह देखें तो भाषा किसी भी मुल्क में लोकतंत्र को ज़िंदा रखने का काम करती है। मसलन, लोगबाग अपनी स्थानीय भाषाओं के माध्यम से ही लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं की समझ विकसित करते हैं तथा उसमें अपनी भागीदारी की तलाश करते हैं। यही नहीं, भाषा और बोली हमारे समाज के निर्माण, उसके विकास, अस्मिता, परंपरा, समाज एवं संस्कृति को पहचान दिलाने में एक सशक्त भूमिका अदा करती हैं। हर इंसान का मनोभाव, राज्य, वर्ग, जातीयता और क्षेत्रीयता की अपनी एक भाषा होती है। लिहाज़ा लोकतंत्र को लोक के पास ले जाने में भाषा की अहमियत को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। यह बात इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भारत एक बहुभाषी देश है जहाँ भाषा और बोली के बीच एक आपसी संघर्ष चलता रहा है। भाषा

और बोली का यह संबंध गहरी जाँच पड़ताल की माँग करता है। इस संदर्भ में बहुत से किताबें लिखी गई हैं। मिथिलेश कुमार झा की समीक्ष्य पुस्तक *लैंग्वेज पॉलिटिक्स ऐंड पब्लिक स्फ़ियर इन नॉर्थ इंडिया : मेकिंग ऑफ़ द मैथिली मूवमेंट* भाषा, बोली, लोकतंत्र तथा सार्वजनिक दायरे के अंतर्संबंधों के अध्ययन की इस कड़ी को आगे बढ़ाती है। यह किताब भाषा की वर्चस्ववादी राजनीति के भँवर में मैथिली के बोली से भाषा बनने के सफ़र और अपनी खोती हुई पहचान को पुनर्जीवित करने के संघर्ष को सिलसिलेवार ढंग से प्रस्तुत करती है।

इस किताब में मैथिली भाषा के साहित्यिक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को अलहदा पहचान के रूप में विवेचित किया गया है। यहाँ लेखक ने भाषाई सियासत, हिंदी-उर्दू की आपसी जंग और ज़ुबान की सांप्रदायिक विभाजन की वर्चस्ववादी अकादमिक बहसों से आगे जाकर कुछ गंभीर सवाल उठाए हैं। संक्षेप में कहें तो इस किताब को भाषाई राजनीति पर काम करने वाले स्थापित विद्वानों जैसे वसुधा डालमिया, फ्रंचेस्का[1] ओर्सीनी, क्रिस्टोफ़र किंग[2] द्वारा पूर्व में दिए गए विचारों में एक नई कड़ी की तरह देखा जा सकता है। यह किताब उत्तर भारत के राष्ट्रवादी आंदोलन के आलोचनात्मक अध्ययन के लिए हिंदी, उर्दू के सांप्रदायिक विभाजन की राजनीतिक बहस को एक महत्त्वपूर्ण स्रोत भी मुहैया कराती है।

लेखक ने अपनी इस रचना में पुरालेखीय, क्षेत्र सर्वेक्षण और भाषाई साहित्य से जुड़े साहित्यिक व्यक्तियों के साक्षात्कार को शामिल किया है। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने हिंदी के वर्चस्व के बरअक्स मैथिली के प्रतिरोध की

[1] फ्रंचेस्का ओर्सीनी भाषाई वर्चस्व की राजनीति की व्याख्या करते हुए लिखती हैं कि पठन-पाठन और पुरोहिताई करने वाले कुछ संस्कृत के पंडित थे जो गाँव में कर्मकांड और विधि-विधान संपन्न करते थे या इनमें कई अग्रवाल और खत्री व्यापारिक कुनबों से थे. यही उच्च और मध्यवर्गीय जातियाँ थीं जो किसी समय बहुभाषी हुआ करती थीं. अब यही जातियाँ खड़ी बोली हिंदी के इर्द-गिर्द आ जुटी थीं. इन्हीं लोगों ने हिंदी आंदोलन की पहली लहर पैदा की, और पत्र-पत्रिका, साहित्य और सार्वजनिक संगठनों और पाठ्य-पुस्तकों के रूप में हिंदी प्रकाशन को प्रोत्साहन दिया. भारत में हिंदी पब्लिक का निर्माण कुछ शिक्षित हिंदुओं द्वारा खड़ी बोली हिंदी को अपनी सार्वजनिक भाषा के रूप में अपनाना एक ऐसे आंदोलन का प्रतीक बना जिसने धीरे-धीरे सांस्कृतिक आंदोलन का रूप ले लिया. उर्दू बुद्धिजीवी इसे समझ न पाने की वजह से हैरान रह गए. वे समझ नहीं पा रहे थे कि जिस उर्दू को अभी तक शिक्षित हिंदू-मुस्लिम दोनों ख़ुशी-ख़ुशी इस्तेमाल कर रहे थे, उसका इतना विरोध क्यों होने लगा था. हिंदी बुद्धिजीवी अपेक्षाकृत बड़े समुदाय की तरफ़ संकेत करना चाहते थे. वे दो शब्दों का इस्तेमाल किया करते थे. एक राष्ट्र और दूसरी जाति. राष्ट्र का अभिप्राय नेशन होता है जबकि जाति का इस्तेमाल एक साझी संस्कृति और पहचान के लिए किया जाता था. यही वह कारण था कि भारत एक नहीं बल्कि दो अलग-अलग संसारों में बँट गया. एक उर्दू का तो दूसरा हिंदी. हिंदी भाषा को राष्ट्रवाद तथा राष्ट्रभक्ति से जोड़ दिया गया. इस भाषा को भारतीयता, भारत माता के रूप में प्रकट किया जाने लगा. इसके तहत हिंदी को संस्कृत की बेटी और दूसरी आर्यभाषा की बड़ी बहन कहा जाता था, जबकि उर्दू झगड़ालू सौत थी. विस्तृत जानकारी के लिए देखें : फ्रंचेस्का ओर्सीनी (1999) : 409-416.

[2] क्रिस्टोफ़र किंग भाषाई सांप्रदायिकता या भाषाई वर्चस्व की राजनीति को समझने के लिए औपनिवेशिक काल की ओर ले जाते हैं और बताते हैं कि हमें अंग्रेज़ी हुकूमत के फूट डालो और राज करो की सांप्रदायिक नीति को भी समझने की ज़रूरत है क्योंकि किसी भी भाषा को बनने में उन राजनीतिक परिस्थितियों, और सामाजिक और सांस्कृतिक हलचलों का हाथ होता है, जो उस भाषा के बनते समय उसके आसपास चल रही होती है. अंग्रेज़ों ने बाँटो और राज करो की नीति को सफल बनाने के लिए भारतीय भाषाओं ख़ास तौर से हिंदी और उर्दू के बीच आपसी तनावों का फ़ायदा उठाते हुए इन दोनों भाषाओं के बीच प्रशासनिक स्तर पर तो नहीं मगर शिक्षा के क्षेत्र में फ़र्क़ करके उन्हें शिक्षा व्यवस्था में हिंदी बोलने वालों को नौकरियों में शामिल करके एक हिंदी भाषी उच्च वर्ग को जन्म दिया और दूसरी तरफ़ उर्दू भाषा को एक मात्र सरकारी देशी भाषा के रूप में मान देकर एक उर्दू भाषी उच्च वर्ग का निर्माण किया. विस्तृत जानकारी के लिए देखें : क्रिस्टोफ़र किंग (1994) : 54.

पड़ताल की है। इस समीक्षा लेख में किताब के आलोचनात्मक विश्लेषण को चार उप भागों में बाँट कर देखने का प्रयास किया गया है —

हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान के नारों के बीच भाषा और बोलियों का आपसी अंतर्द्वंद्व

इस किताब में उत्तर भारतीय सार्वजनिक दायरे में भाषाई राजनीति को समझने की एक अनोखी पहल की गई है जो इस बात पर केंद्रित है कि कोई भाषा अचानक धर्म और भारतीय राष्ट्रवाद से ताल्लुक़ बढ़ाने के बाद एक सामाजिक और राजनीतिक लामबंदी का महत्त्वपूर्ण यंत्र कैसे बन जाती है ?

मुख्य सवाल इस बात के इर्द-गिर्द घूमता है कि हिंदी भाषा ने मैथिली को पीछे क्यों धकेल दिया है? हिंदी की बोलियों के रूप में खड़ी बोली, बघेली, बुंदेलखंडी, राजस्थानी, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मगही, और मैथिली को सूचीबद्ध करके हिंदी भाषा को अन्य भाषाओं के ख़िलाफ़ पेश किया गया। यही वह समय था जब हिंदी हार्टलैंड (हिंदी हृदय भूमि) में हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान और उर्दू, मुस्लिम, पकिस्तान जैसी नारों के माध्यम से सांप्रदायिक भाषाई ध्रुवीकरण देखने को मिला।

पुस्तक की प्रस्तावना में साहित्यिक भाषाई राजनीतिक क्षेत्र में चल रहे कुछ प्रासंगिक विचारों, अवधारणाओं और सिद्धांतों के शिक्षाप्रद विवरणों की पड़ताल की गई है। दूसरे अध्याय में मैथिली आंदोलन में आधुनिक प्रिंट के इतिहास की छान-बीन करते हुए राष्ट्रवादी विचारधाराओं, देशी भाषाओं की राजनीति, राष्ट्र-राज्य के संदर्भ में हिंदी के उदय व वर्चस्व आदि जैसे पहलुओं समझने का प्रयास किया गया है।

बेनेडिक्ट ऐंडर्सन राष्ट्रवाद के संदर्भ में भाषा और प्रिंट को राष्ट्र के विचार का बहुत महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं।[3] वहीं मिथिलेश झा का मानना है कि कुछ भाषा आधारित समुदायों द्वारा उन्नीसवीं सदी में सामाजिक और राजनीतिक लामबंदी की गई पर उन्होंने इसे नौवीं-दसवीं सदी में हो रहे राजनीतिक बदलाव का परिणाम माना। लेखक का यह विचार है कि भाषा और बोली का संबंध स्थिर न होकर आकस्मिक रहता है। इसे वह हिंदी और मैथिली के संदर्भ मे समझाने का प्रयास करते हैं। हर्डर भाषा को स्वयं एक अभिव्यक्ति की प्रकृति मानते हैं। वह व्याकरण आधारित भाषा के विरोधी हैं। वहीं एडवर्ड्स का विचार था कि जब भाषा बदलती है तब वह अपनी आवश्यकता के अनुसार स्थितियाँ बदल लेती है और इसका कारण कुछ भी हो सकता है। मिथिलेश झा इन्हीं विचारों के आधार पर वर्तमान हिंदी-मैथिली के आपसी संबंध को उजागर करते हैं। साथ ही उन्होंने भाषा के संबंध में विभिन्न विचारकों के सैद्धांतिक तर्क-वितर्क को भी शामिल किया है।

[3] बेनेडिक्ट ऐंडर्सन मुख्यतः राष्ट्रवाद के सिद्धांत 'इमैजिंड कम्युनिटीज़' के लिए जाने जाते हैं. राष्ट्रवाद का सैद्धांतिक विश्लेषण करते हुए उन्होंने राष्ट्र जैसे समुदाय को गढ़ने के लिए कम-से-कम दो शर्तों का होना लाज़िमी समझा है. पहली शर्त यानि वक़्त का ऐसा तसव्वुर होना लाज़िमी है जिसमें समसामयिकता का बोध संभव हो सके. इस पहली शर्त के बूते दो नए सांस्कृतिक उपादान वजूद में आते हैं — अख़बार और उपन्यास जिसे ऐंडर्सन प्रिंट कैपिटलिज़म कहते हैं. विस्तृत रूप से देखें, ऐंडर्सन (1983). आदित्य निगम का कहना है कि भारत के संदर्भ में ऐंडर्सन का राष्ट्रवाद कल्पित समुदायों की नुमाइंदगी करता है. देखें, आदित्य निगम. (2015).

औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत भारत में राष्ट्र-राज्य के निर्माण का प्रयास तथा उसके लिए एक राष्ट्रीय भाषा की रचना का प्रयास कई तरह की चुनौतियों और अंतर्विरोधों से भरा साबित हुआ है। भाषा का सवाल राष्ट्र के सवालों के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। भारत एक बहुभाषी देश है। यहाँ विभिन्न समुदायों की अपनी अलग विशिष्टता, कला, संस्कृति, पहचान एवं अपना इतिहास है। भाषा और बोली का विभाजन व वर्गीकरण एक कृत्रिम प्रक्रिया है, जो हमेशा मान्य नहीं होता है। भाषा और बोली का संबंध राष्ट्र और राष्ट्रीयता के संदर्भ में भी देखा जा सकता है। जिस प्रकार किसी भी राष्ट्रीयता में अक्सर राष्ट्र बनने की संभावनाएँ रहती है, उसी प्रकार बोली में भी एक भाषा बनने की क्षमता विद्यमान रहती है। राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में लगभग सभी नेताओं ने एक राष्ट्रीय देशी भाषा को अंग्रेज़ी से अलग होने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। वास्तव में किसी भी राष्ट्र का निर्माण व विकास तब तक संभव नहीं है जब तक कि उसमें रहने वाले सभी लोग एक-दूसरे से ख़ुद को जुड़ा हुआ महसूस न करें। भाषा भी एक ऐसा माध्यम है जो लोगों के बीच इसी तरह का जुड़ाव विकसित करती है। भारत जैसे बहुभाषी देश में पूरी संविधान सभा की बहस के दौरान पहले हिंदुस्तानी और कुछ समय बीतने के बाद हिंदी को इस तरह की ज़िम्मेदारी निभाने योग्य समझा गया। और भारतीय संदर्भ में यह सर्वविदित है कि किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा की तुलना में हिंदुस्तानी/हिंदी का प्रभाव अपने क्षेत्र में तथा उसके बाहर भी व्यापक रहा है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन, अखिल भारतीय मुद्दों जैसे राष्ट्रवाद, सेकुलरवाद, संप्रदायवाद, लोकतंत्र का विकास तथा इसकी सफलताओं और विफलताओं का विश्लेषण अक्सर जाति, धर्म, लिंग, तथा आर्थिक मापदंडों पर किया जाता रहा है। इस तरह के अध्ययनों से भारतीय लोकतंत्र के मूलभूत विचारों एवं मूल्यों को समझने में बहुत हद तक सफलता मिली है। लेकिन यह भी एक तथ्य है कि ऐसे अध्ययन भारतीय लोकतंत्र और उसकी बुनियादी चुनौतियों एवं मुद्दों के साथ वास्तविक ज़मीनी राजनीतिक मसलों को समझने में पूरी तरह नाकाम रहे हैं। इसलिए लेखक इस पुस्तक में इस बात पर अधिक ज़ोर देते हैं कि अगर हम भारतीय लोकतंत्र को संविधान और आधुनिक राज्य के दायरे से बाहर निकालकर सामाजिक परिप्रेक्ष्य में समझना चाहते हैं तो भाषा एक उपयुक्त अवधारणा जैसे राष्ट्रवाद, सेकुलरवाद, संप्रदायवाद, की समझ और व्याख्या करने के लिए एक बहुमूल्य माध्यम हो सकती है। अर्थात सामाजिक आंदोलनों के लिए भाषा एक महत्त्वपूर्ण औज़ार के रूप में कार्य करती है। बेनेडिक्ट ऐंडर्सन के शब्दों में राष्ट्र कल्पनाओं पर आधारित एक राजनीतिक समुदाय है। वतन का तसव्वुर एक ज़ुबान के बिना मुमकिन नहीं माना जाता जिसे उस राज्य या समुदाय में रहने वाले लोग समझ सकें और बोल सकें। वहीं बर्नाड एस. कोह्न के अनुसार ब्रिटिश इंडिया में सन् 1770 से 1785 तक का काल एक सृजनात्मक दौर था। इस दौरान अंग्रेज़ों ने अपनी सत्ता स्थापित करने तथा अपनी शासन व्यवस्था को मज़बूत करने के लिए भारतीय भाषाओं का जम कर इस्तेमाल किया। अंग्रेज़ी हुकूमत के हुक्मरानों और ओहदेदार लोगों के द्वारा भारत में प्रचलित प्राचीन भाषाओं जैसे संस्कृत, फ़ारसी, और अरबी के साथ-साथ कई अन्य गँवई भाषाओं को भी सीखने और सिखाने के

सिलसिले का आग़ाज़ किया। इस सिलसिले के समानांतर एक ऐसी ज़ुबान की तलाश भी की जा रही थी जिसे भारत की बहुसंख्यक जमात बोलती हो। उस भाषा को नाम दिया गया हिंदवी/ हिंदुस्तानी जो भारत में अंग्रेज़ी हुकूमत की आधिकारिक भाषा बनी। यही वह भाषा है जिसे गांधी और नेहरू जैसे नेताओं ने भी अंग्रेज़ी हुकूमत के ख़िलाफ़ आज़ादी के संघर्ष के दरमियान राष्ट्रीय भाषा के रूप में अनुमोदित किया। वसुधा डालमिया के अनुसार ब्रिटिश हुकूमत का मक़सद किसी भी भारतीय भाषा को सामूहिक संचार की भाषा बनाना नहीं था। आधुनिक हिंदी गद्य के विकास और शब्दकोशों व व्याकरणों के मानकीकरण में पहले मिशनरियों तथा स्कूली किताबों के लेखकों और संपादकों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। परंतु 19वीं शताब्दी के शुरुआती दौर से ही हिंदी को हिंदुओं की भाषा के रूप में देखने का चलन मज़बूत होने लगा। जिसे राष्ट्रवादियों ने भी हाथोंहाथ अपना लिया। डालमिया के अनुसार हिंदी भाषा को हिंदुओं की भाषा के रूप में पेश करने की राजनीति को हम तीन स्तर पर समझ सकते हैं। पहला, यह हिंदी को उर्दू से अलग कर अपनी स्वतंत्र स्वायत्तता क़ायम करने की एक पहल थी। दूसरा, इस अलगाव के बाद इस ज़ुबान का व्याकरणों, शब्दकोशों एवं पाठशालाओं, स्कूली किताबों के माध्यम से मानकीकरण किया जा सकता था। और उन सभी लफ़्ज़ों का जो उर्दू (जिसे हिंदी की दुश्मन भाषा के रूप में पेश किया जाने लगा था) के नज़दीक थे, का विभाजन या प्रतिस्थापन उन अल्फ़ाज़ से किया जाने लगा जो उर्दू से अलग थे। तीसरा, मानकीकरण के साथ हिंदी के ऐतिहासीकरण की पहल। मसलन, हिंदी का ऐतिहासिक रिश्ता उन ग्रंथों के साथ क़ायम किया जाने लगा जिनका संबंध माज़ी(अतीत) के प्रमुख वैचारिक आंदोलनों से था।[4]

मैथिली भाषा की अस्मिता की सियासत और स्वायत्तता की माँग

लेखक इन विचारों को केंद्रीय बिंदु मानकर पहले अध्याय में औपनिवेशिक भारत के कुछ ऐसे कार्यों की तरफ़ इशारा करते हैं जिनके चलते मैथिली को हाशिए की तरफ़ धकेला जाने लगा। उदाहरण के लिए, जनगणना सर्वेक्षण में इस तथ्य को महत्त्व दिया जाने लगा कि अमुक भाषा और उसकी बोलियों का कितने लोग प्रयोग करते हैं। इसका बड़ा ख़मियाज़ा मैथिली को ही भुगतना पड़ा। जनगणना सर्वेक्षण के उपरोक्त आधार पर मैथिली के क्षेत्र को एक पिछड़े हुए क्षेत्र के रूप में पेश किया गया। इस प्रकार, जाति-वर्ग, धर्म, लिंग, तथा सामाजिक पैमाने के आधार पर मैथिली को हमेशा नीति-निर्माण से दूर रखा गया। इस अध्याय में जनगणना के आँकड़ों को ध्यान में रख कर भाषाई राजनीति को समझने का प्रयास किया गया है। उल्लेखनीय है कि लालू प्रसाद के नेतृत्व वाली जनता दल की सरकार ने 1992 में बिहार लोक सेवा आयोग से इस भाषा को बाहर कर दिया था। दूसरी तरफ़, भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाली केंद्रीय सरकार ने इस भाषा की ऐतिहासिक मान्यता के दावे को दरकिनार कर दिया। लेखक के अनुसार राजनीति में सक्रिय संभ्रांत वर्ग इस भाषा के अस्तित्व को नकार रहा था।

---

[4] वसुधा डालमिया (2016).

तीसरे अध्याय में मैथिली आंदोलन का एक नक़्शा तैयार करने की कोशिश की गई है। इसके तहत लेखक उत्तर औपनिवेशिक भारत में मैथिली के आंदोलन को चार चरणों में बाँट कर देखते हैं।

पहले चरण के अंतर्गत 1950 के दशक को समझने का प्रयास किया गया है। यह वह दौर था जब राज्यों का भाषाई पुनर्गठन आयोग के आधार पर बँटवारा किया जा रहा था। इस समय मैथिली के लिए एक अलग राज्य की माँग भी उठी थी। दूसरे चरण में मैथिली भाषा की पहचान और मान्यता को लेकर एक आंदोलन चलाया गया। साहित्यिक संगठनों के साथ ही वहाँ एक मिथिला विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। जनता की माँग थी की वहाँ एक मिथिला रेडियो स्टेशन भी बने। तीसरा दौर तब शुरू होता है जब राज्य में लालू यादव की सरकार बनी और उसने 27 फ़रवरी, 1992 को मैथिली भाषा को बिहार लोक सेवा आयोग के पाठ्यक्रम से बाहर कर दिया। मैथिली आंदोलन के साथियों ने इसके विरोध में सरकार के समक्ष यह माँग रखी कि मैथिली को बिहार लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में फिर से शामिल किया जाए। और साथ ही प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों के पाठ्यक्रम में भी मैथिली भाषा को एक विषय के रूप में शामिल किया जाए। पाठ्यपुस्तक में भी इसको जगह मिले और यह एक प्रशासनिक भाषा भी बने। इस प्रकार इस चरण में मैथिली भाषा के लिए एक जन आंदोलन चला था। इस आंदोलन में हज़ार से अधिक मैथिली वक्ता इकट्ठा हुए थे जिससे यह एक ऐतिहासिक आंदोलन और प्रेरणादायक आंदोलन बना। जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के लोग शामिल हुए थे। (पृ. 218)
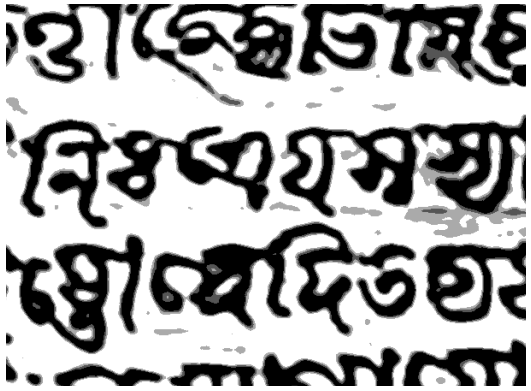
आम तौर पर किसी भी सामाजिक आंदोलन का नियंत्रण और नेतृत्व समाज के आभिजात्य वर्ग अथवा प्रमुख जातियों के हाथों में रहा है। हिंदी, उर्दू, संस्कृत या तमिल— कोई भी भाषाई आंदोलन इस प्रवृत्ति से अछूता नहीं रहा है। इस मामले में मैथिली का आंदोलन भी अपवाद नहीं है।

हालाँकि यह आंदोलन विफल रहा परंतु भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाली सरकार इस मौक़े को भुनाने और अपने राजनीतिक हित को साधने के लिए स्थानीय जनता का समर्थन हासिल करने में सफल रही। इस प्रकार मैथिली भाषा को 2003 में तेरहवीं लोकसभा के पटल

पर लाया गया तथा उसे संविधान की आठवीं सूची में शामिल कर लिया गया।

मैथिली आंदोलन बनाम हिंदी वर्चस्व

लेखक द्वारा इस किताब के तीसरे तथा चौथे अध्याय में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में हिंदी भाषा के वर्चस्व के मद्देनज़र मैथिली आंदोलन को समझाने का प्रयास किया गया है। मैथिली एक इंडो-आर्यन भाषा है जो बिहार राज्य के उत्तरी हिस्सों तथा नेपाल के आसपास रहने वाले लोगों के द्वारा बोली जाती है। पॉल ब्रास के अनुसार भागलपुर, पूर्णिया, सहरसा, दरभंगा, और मुज़फ़्फ़रपुर को मैथिली क्षेत्र माना जाता है। मैथिली के संदर्भ में दुर्गानाथ झा बताते हैं कि मैथिली का मुख्य केंद्र दरभंगा और मधुबनी का क्षेत्र माना जाता है। इसके बाद वह पूर्णिया की भाषा में विलीन होने लगती है जो बंगाली भाषा से प्रभावित है। और दूसरी तरफ़ भागलपुर और मुंगेर में मगही भाषा से प्रभावित होती जाती है। वहीं पश्चिम में मुज़फ़्फ़रपुर और चंपारण में बोली जाने वाली भाषा भोजपुरी से प्रभावित है। इस प्रकार मैथिली भाषा के क्षेत्र का स्पष्ट निर्धारण करना मुश्किल होता है। इस संदर्भ में जनगणना की भूमिका भी संदेहास्पद रही है। मैथिली के मामले में जनगणना कभी निष्पक्ष नहीं रही। बीसवीं शताब्दी में मैथिली को हिंदी का ही अंग समझा गया क्योंकि देश की एकता के लिए यह आवश्यक था कि देश की अधिक से अधिक हिस्सों की ज़ुबान हिंदी हो। अतः हिंदी के अलावा अन्य भाषाओं को बोलने वालों की संख्या को कम करके आँकना एक चलन-सा बन गया। मैथिली भाषियों ने एक राष्ट्रीय भाषा के रूप में हिंदी की कभी मुख़ालफ़त नहीं की, लेकिन जब हिंदी के कुछ प्रचारकों ने मैथिली को हिंदी की ही एक बोली के रूप में प्रचारित करना शुरू किया तो इसका विरोध किया जाने लगा। ख़ास तौर से 1920 और 1930 के दशक में यह विरोध सबसे तीव्र था।

आलोचनात्मक विश्लेषण

भाषा या सामाजिक आंदोलनों पर केंद्रित शोध-अध्ययनों से ज़ाहिर होता है कि आम तौर पर किसी भी सामाजिक आंदोलन का नियंत्रण और नेतृत्व समाज के आभिजात्य वर्ग अथवा प्रमुख जातियों के हाथों में रहा है। हिंदी, उर्दू, संस्कृत या तमिल — कोई भी भाषाई आंदोलन इस प्रवृत्ति से अछूता नहीं रहा है। इस मामले में मैथिली का आंदोलन भी अपवाद नहीं है। इस किताब का अध्ययन करने के बाद यह देखने को मिलता है कि मैथिली आंदोलन का नेतृत्व भी ख़ास तौर पर ऊपरी जातियों के हाथों में रहा है। इसके मद्देनज़र कुछ सवालों पर ग़ौर करना लाज़िमी हो जाता है।

पहला, लेखक के विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे मैथिली का सार्वजनिक इलाक़ा अपने आप में समरूप है जहाँ सभी लोग एक ही भाषा का प्रयोग करते हैं। किताब के अध्ययन से यह बात स्पष्ट नहीं होती कि अन्य स्थानीय भाषाओं के साथ मैथिली का संबंध कितना समतापूर्ण रहा है। इस पर लेखक ने चुप्पी साध रखी है जबकि हिंदी और मैथिली के संबंधों की बात करते हुए लेखक कहीं न कहीं आलोक राय के इस विचार के बहुत क़रीब दिखते हैं कि हिंदी तमाम क्षेत्रीय भाषाओं पर हावी रही है तथा उसमें एक दमनकारी प्रवृति रही है। इस मायने में

लेखक को मैथिली में कोई स्याह प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती।

दूसरा, इस किताब में लेखक यह मान कर चलता है कि मैथिली के प्रति हिंदी का रवैया प्रकट या जाने-अनजाने दमनकारी रहा है । वहीं अभय कुमार दुबे अपने किताब *हिंदी में हम* में साफ़गोई के साथ बताते हैं कि यह एक अतिरंजित सोच है कि हिंदी देश की अन्य बोलियों और भाषाओं का दमन करके आगे बढ़ी है। उनके अनुसार हिंदी के निरंतर विकास की वास्तविकता के पीछे मुख्य कारण यह है कि उसमें कई सारे जुझारू और कर्मठ विद्वान हुए हैं जिन्होंने हिंदी के विस्तार के लिए दिन-रात लगन के साथ काम किया है। सांप्रदायिकता वाले मुद्दे पर जवाब देते हुए वे लिखते हैं कि 'हिंदी संस्कृत की बेटी, या उर्दू की दुश्मन या अंग्रेज़ी की चेरी नहीं है। अगर किसी की बेटी है तो भारतीय आधुनिकता की बेटी है। हिंदी की आलोचना करने के लिए आधुनिकता के उस कारख़ाने की आलोचना करनी होगी जिसकी कारीगरी का नतीजा यह अनूठी भाषा है।[5]

तीसरा, किताब से मैथिली भाषा के आंदोलनकर्ता तथा हिंदी के वर्चस्व की राजनीति करने वाले लोगों में एक प्रकार की समानता दिखाई देती है। दोनों समूहों के लोग एक ख़ास तरह की जाति और समुदाय से आते हैं। क्या ऐसे में मैथिली आंदोलन को आभिजात्य वर्ग की पारिवारिक लड़ाई के तौर पर देखा जा सकता है ? क्या इस आंदोलन का सही मायने में कोई सामाजिक सरोकार भी था? या यह केवल अपनी राजनीतिक पहचान को मज़बूत करने की एक कोशिश भर था?

चौथा, क्या मैथिली भाषा को स्कूली शिक्षा के पाठ्यक्रम में शामिल करने की वकालत करने वाले लोग इस बात को लेकर सचेत हैं कि उनकी यह माँग समाज के वंचित तबक़ों की उन्नति में बाधक बन सकती है? यह सवाल इसलिए कि दलित विमर्श अंग्रेज़ी शिक्षा को मुक्तिदायक मानता है। मैथिली भाषा पर गर्व करने वाले लोग अपनी व्यक्तिगत ज़िंदगी में अंग्रेज़ी प्रेमी प्रतीत होते हैं। वे अपनी तथा अपने परिवार के सदस्यों की शिक्षा के लिए अंग्रेज़ी माध्यम का सहारा लेते हैं। लेकिन दूसरी तरफ़ मैथिली क्षेत्र के स्कूली शिक्षा के पाठ्यक्रम में मैथिली भाषा को अनिवार्य करने की माँग करके समाज के आर्थिक रूप से कमज़ोर वर्गों को भविष्य के अवसरों से वंचित करना चाहते हैं। आज दलित औए पिछड़े वर्गों के लिए अंग्रेज़ी मुक्तिकारी भाषा मानी जाती है। अंग्रेज़ी की तुलना में भारतीय भाषाओं की स्थिति आज भी दयनीय है। अंग्रेज़ी अभी भी हिंदुस्तान के आभिजात्य वर्ग में शामिल होने का एक सशक्त माध्यम है। अंग्रेज़ीदाँ लोगों के द्वारा आभिजात्य वर्ग तथा आम अवाम के बीच एक व्यापक फ़ासला बरक़रार रखने की कोशिश की जाती रही है। वैश्वीकरण के इस दौर में हम सब अंग्रेज़ी को ज़्यादा तरजीह देते हैं क्योंकि इसके बिना लोगों को नौकरी की प्रतियोगिता में पिछड़ जाने और समाज की मुख्यधारा से कट जाने का डर सताता रहता है।

पाँचवाँ, हिंदी के हृदय-स्थल यानि उत्तर भारत में भाषाई राजनीति को देखें तो हिंदी वर्चस्व की राजनीति में — चाहे वो उर्दू के ख़िलाफ़ हो या मैथिली के ख़िलाफ़, दोनों

[5] अभय कुमार दुबे (2015).

आंदोलनों में उच्च जाति के लोगों की प्रधानता रही है। मैथिली एक बोली हुआ करती थी जिसे हिंदी के पैरोकार हिंदी में समाहित करने की कोशिश करते रहते थे। इसके ख़िलाफ़ एक लंबा आंदोलन चला, और इस आंदोलन के कारण उन्हें अंततः सफलता भी हाथ लगी। एक लंबे आंदोलन की सफलता के रूप में मैथिली को एक भाषा के रूप में मान्यता भी मिली। परंतु इसके विपरीत उर्दू भाषा के साथ, जिसे इस देश में गंगा-जमुनी तहज़ीब की प्रतीक माना जाता है, और जो एक समय उत्तर-औपनिवेशिक भारत में दूसरी कार्य भाषा के रूप में भी प्रतिष्ठित रही थी, सौतेला व्यवहार किया जाता रहा है। ऐसे में यह सवाल करना अनुचित नहीं है कि एक स्वतंत्र भाषा के रूप मैथिली की माँग करने वाले लोग इस भाषाई सांप्रदायिकता के ख़िलाफ़ क्यों आवाज़ बुलंद नहीं करते? किताब में इस पहलू पर भी विचार किया जाना चाहिए था कि देश की अन्य भाषाओं के प्रति मैथिली के आंदोलनकारियों का रवैया किस प्रकार का था।

लेकिन, ऐसे सवालों की अवहेलना के बावजूद मिथिलेश झा की यह पुस्तक भारत में भाषाई राजनीति को समझने और सार्वजनिक दायरे में भाषा की अहमियत का आकलन करने के लिए एक बेहतरीन और सराहनीय पहल है।

निष्कर्ष

भारत एक बहुभाषी देश है। भारत की अनेक पहचानों में से एक भाषाई विविधता भी है जो अन्य मुल्कों की तुलना में भारत को अनोखा स्वरूप प्रदान करता है। लेकिन इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि भारत में भाषाई वर्चस्व की राजनीति नहीं है। सिर्फ़ आज़ाद भारत के इतिहास पर अगर ग़ौर करें तो भाषा के नाम पर हुए आंदोलनों के कई अनेक उदाहरण हमारे समक्ष मौजूद हैं जो इस बात की तसदीक़ करते हैं कि भारत में भाषा के स्तर पर भी बहुत से अंतर्द्वंद्व हैं जिसे सुलझाना एक चुनौतीपूर्ण मामला है। लेखक द्वारा इस किताब के माध्यम से हिंदी के वर्चस्व के समक्ष अन्य भाषाओं को किस प्रकार से दबाने की कोशिश की जाती रही है, उसे समझने की क़ाबिल-ए-तारीफ़ कोशिश की गई है। मैथिली भाषा के आंदोलन के आईने में अन्य भारतीय भाषाएँ अपनी स्वतंत्र पहचान कैसे स्थापित कर सकती हैं, उसको जानने के लिए एक दिलचस्प किताब साबित होगी।

संदर्भ

अभय कुमार दुबे (2015), *हिंदी में हम : आधुनिकता के कारख़ाने में भाषा और विचार*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

आलोक राय (2001), *हिंदी नैशनलिज़म, ओरिएंट लॉन्गमैन*, नई दिल्ली.

क्रिस्टोफ़र किंग (1994), *वन लैंग्वेज टू स्क्रिप्ट्स : द हिंदी मूवमेंट इन नाईंटींथ सेंचुरी नॉर्थ इंडिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस मुंबई.

फ्रंचेस्का ओर्सीनी (1999) 'व्हॉट डिड दे मीन बाई पब्लिक? लैंग्वेज लिटरेचर ऐंड पॉलिटिक्स ऑफ़ नैशनलिज़म', *इकनॉमिक ऐंड पोलिटिकल वीकली* अंक, 34, सं. 7.

फ्रंचेस्का ओर्सीनी (2011), *हिंदी का लोकवृत्त : 1920-1940*, (अनु.) : नीलाभ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

बेनेडिक्ट ऐंडर्सन (1983), *इमैजिंड कम्युनिटीज़ : रिफ़्लेक्शंस ऑन द ऑरिजिन्स ऐंड द ग्रोथ ऑफ़ नेशनल कॉन्शसनेस*, वर्सो, लंदन.

वसुधा डालमिया (1997), द *नैशनलाइज़ेशन ऑफ़ हिंदू ट्रैडिशन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

वसुधा डालमिया (2016), *हिंदू परंपराओं का राष्ट्रीयकरण : भारतेंदु हरिश्चंद्र और उन्नीसवीं सदी का बनारस*, (अनु.) : संजीव कुमार, योगेंद्र दत्त, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.